

श्रीमद्भागवतम् स्कन्ध 3 अध्याय 15: जय-विजय को शाप

13 September 2026



पाठ से पहले एक निवेदन

श्रीमद्भागवत महापुराण के ये अध्यायवार सार गीता प्रेस भागवत को मुख्य आधार मानकर तैयार किए गए हैं। ये भागवत के अध्ययन में सहायक हैं, मूल ग्रंथ का स्थान नहीं ले सकते।

अध्ययन का मुख्य और अनुशंसित मार्ग गीता प्रेस की भागवत पुस्तक से सीधा पाठ है। यात्रा में, घर से दूर, या जब पुस्तक पास न हो, तब निरंतर अध्ययन, पुनरावृत्ति और समझ के लिए इन सारों का सहारा लिया जा सकता है।



पूर्ण जगत् भी संतुलन कैसे खो सकता है? इस अध्याय में चार दिगम्बर बालक-ऋषि वैकुण्ठ के छह द्वारों से निर्बाध होकर निकल जाते हैं — और सातवें द्वार पर दो अभिमानी द्वारपालों द्वारा रोक दिए जाते हैं। जो घटित होता है वह युद्ध नहीं, अपितु एक ही श्वास में उच्चारित शाप है, जो भगवान् के स्वयं द्वार पर पधारने से उतनी ही शीघ्रता से शान्त भी हो जाता है।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।

श्रीमद्भागवतम् विजडम् में आपका स्वागत है — श्रीमद्भागवत महापुराण की पावन कथाओं और शिक्षाओं की एक भक्तिपूर्ण यात्रा। चतुर्दश अध्याय का समापन इस दृश्य से हुआ था कि दिति ने, कश्यप के द्वारा एक अशुभ क्षण में गर्भधारण करने के पश्चात्, अपने देव-द्वेषी होने की सम्भावना वाले पुत्रों के भय से उस तेज को सौ वर्षों तक गर्भ में ही रोके रखा। यही एक विवरण — सौ वर्षों की प्रतीक्षा, सघन होते अन्धकार का — इस पंचदश अध्याय का आरम्भ-बिन्दु है। किन्तु इससे पहले कि मैत्रेय विदुर को यह बताएँ कि दिति के पुत्रों का क्या हुआ, उन्हें पहले कथा में पीछे लौटना होगा, यह समझाने के लिए कि देवता दिति के गर्भ की उस वस्तु से इतने भयभीत क्यों थे — और वह स्पष्टीकरण हमें एक सर्वथा अप्रत्याशित स्थान तक ले जाता है: स्वयं वैकुण्ठ के द्वारों तक, उस एक निर्णायक प्रभात तक जब द्वारपाल जय और विजय ने चार लघु, तेजोमय, विचरणशील ऋषियों को प्रवेश से रोक दिया, और इसके लिए शापित हुए। ब्रह्मा चिन्तित देवताओं को यही कथा सुनाते हैं — क्योंकि स्वर्ग के वे दोनों अभिमानी किन्तु भक्त द्वारपाल अब दूसरी बार दिति के पुत्रों के रूप में जन्म लेने वाले हैं।

अध्याय-परिचय

- शास्त्र: श्रीमद्भागवत महापुराण
- स्कन्ध: 3 (तृतीय स्कन्ध)
- अध्याय: 15 (पंचदश अध्याय)
- अध्याय-शीर्षक: सनक तथा उनके तीन भ्राताओं द्वारा जय-विजय को शाप
- मुख्य वक्ता: मैत्रेय (सम्पूर्ण कथा के वाचक), जो बारी-बारी से देवताओं, ब्रह्मा, चार कुमार-ऋषियों, तथा स्वयं कुमारों की भगवान् से की गई प्रार्थना को उद्धृत करते हैं — यह सम्पूर्ण कथा श्रीशुकदेव गोस्वामी द्वारा राजा परीक्षित को, तथा सूत गोस्वामी द्वारा ऋषि शौनक एवं नैमिषारण्य की सभा को सुनाई गई
- मुख्य श्रोता: राजा परीक्षित (कथा-ढाँचे के भीतर); विदुर (संवाद के भीतर)
- मुख्य स्थल: मैत्रेय का आश्रम, जहाँ विदुर बैठे हैं; मैत्रेय की अपनी कथा के भीतर, स्थल बदलकर ब्रह्मा के समक्ष देवताओं की सभा में, तथा फिर स्वयं वैकुण्ठ में — विशेष रूप से उसके सातवें द्वार पर — चला जाता है
- मुख्य विषय: चिन्तित देवताओं को ब्रह्मा द्वारा एक पुरानी कथा सुनाई जाती है: कैसे ऋषि सनक, सनन्दन, सनातन तथा सनत्कुमार (जिन्हें परम्परागत रूप से चार कुमार कहा जाता है) एक बार वैकुण्ठ गए और वहाँ सातवें द्वार पर द्वारपाल जय-विजय द्वारा प्रवेश से रोक दिए गए; कैसे ऋषियों ने, धर्मयुक्त क्रोध के एक क्षण में, उन दोनों को वैकुण्ठ से गिरकर भौतिक जगत् में जन्म लेने का शाप दिया; कैसे जय-विजय ने विनम्रतापूर्वक उस शाप को स्वीकार किया; तथा कैसे भगवान् स्वयं तुरन्त द्वार पर पधारे, जिनकी उपस्थिति ने ऋषियों के शेष क्रोध को भी परम भक्ति में परिवर्तित कर दिया
- मुख्य श्लोक-सीमा: स्कन्ध 3, अध्याय 15, श्लोक 1–50 (इस अध्याय के सभी पचास श्लोकों का पारम्परिक क्रमांकन बिना किसी अन्तराल के चलता है; देखें सत्यापन-टिप्पणियाँ)
- मूल संस्करण: गीता प्रेस श्रीमद्भागवत महापुराण

गर्भ में अन्धकार, और ब्रह्मा से प्रार्थना

अध्याय का आरम्भ वैकुण्ठ में नहीं, अपितु पुनः दिति के साथ होता है, जिन्हें हमने चतुर्दश अध्याय के अन्त में कश्यप के उस प्रबल तेज को, भय के कारण, गर्भ में धारण किए हुए छोड़ा था। मैत्रेय विदुर को बताते हैं कि दिति ने उस तेज को पूरे सौ वर्षों तक अपने भीतर रोके रखा — और उसका छिपा हुआ तेज इतना प्रबल था कि उसने ब्रह्माण्ड के समस्त ज्योतिष्पिण्डों के प्रकाश को भी मन्द कर दिया। विभिन्न लोकों के रक्षकों ने अपनी ही आभा को क्षीण होते अनुभव किया और, विचलित होकर, सृष्टिकर्ता ब्रह्मा के पास गए यह जानने के लिए कि यह फैलता हुआ अन्धकार क्या संकेत करता है।

मैत्रेय उवाच । प्रजापत्यं तु तत्तेजः परतेजोहनं दितिः ।

दधार वर्षाणि शतं शङ्कमाना सुरार्दनात् ॥ १ ॥

maitreya uvāca / prājāpatyam tu tat tejaḥ para-tejo-hanam ditiḥ dadhāra varṣāṇi śataṁ śaṅkamānā surārdanāt

अर्थ: मैत्रेय ने आगे कहा: देवताओं के लिए संकट की आशंका से, दिति ने अपने गर्भ में सौ वर्षों तक कश्यप का वह प्रबल तेज धारण किए रखा — एक ऐसा तेज जो किसी भी शत्रु के बल को परास्त करने में सक्षम था। (स्कन्ध 3, अध्याय 15, श्लोक 1)

इसके बाद आने वाली देवताओं की प्रार्थना विनम्रता और उलझन का एक छोटा-सा उत्कृष्ट उदाहरण है। वे ब्रह्मा को सर्वोच्च आदर के हर चिह्न के साथ सम्बोधित करते हैं — “आप, जिनका ज्ञान काल से अप्रभावित है”, “आप, जिनमें सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड, कारण और कार्य दोनों सहित, बुना हुआ है” — ऐसी भाषा जो वास्तव में केवल स्वयं परमेश्वर के लिए ही उपयुक्त होनी चाहिए। यह एक स्पर्शी, लगभग हास्यास्पद क्षण है: भयभीत देवता, जो उन पर मँडराते अन्धकार से त्रस्त हैं, स्वाभाविक रूप से भक्ति की सर्वोच्च भाषा की ओर मुड़ जाते हैं जो वे जानते हैं, यद्यपि वे कृष्ण या विष्णु को नहीं, अपितु ब्रह्मा को सम्बोधित कर रहे हैं। मैत्रेय बताते हैं कि ब्रह्मा को स्वयं यह बात कुछ विनोदपूर्ण लगी — उन्होंने “उनकी इस घोर अज्ञानता पर हँसी, जो उन्हें मानो स्वयं परमेश्वर मानकर प्रार्थना कर रहे थे” — इसके पश्चात् भी उन्होंने चिन्तित सभा को प्रसन्न करने वाले मधुर शब्दों में उत्तर दिया।



एक ऐसे फैलते अन्धकार से चिन्तित, जिसका स्रोत वे नहीं देख पाते, रक्षक-देवता सृष्टिकर्ता ब्रह्मा के पास एक व्याकुल प्रार्थना लेकर आते हैं (श्लोक 1-11)।

ब्रह्मा का उत्तर: वैकुण्ठ की एक कथा

ब्रह्मा का उत्तर दिति के गर्भ का सीधा स्पष्टीकरण नहीं है — अभी नहीं। इसके बजाय, वे देवताओं को एक पुरानी कथा सुनाते हैं, और यही कथा शेष अध्याय को घेरे रहती है। बहुत पहले, वे कहते हैं, उनके अपने मानस-पुत्र — सनक तथा उनके तीन भ्राता, उनकी सन्तानों में सबसे ज्येष्ठ, योग की शक्ति से समस्त लोकों में विचरण करने वाले ऋषि, जो जो कुछ भी देखते हैं उससे पूर्णतः अनासक्त रहते हैं — अपने भ्रमण के दौरान एक बार स्वयं वैकुण्ठ, भगवान् विष्णु के दिव्य धाम, गए।

ते एकदा भगवतो वैकुण्ठस्यामलात्मनः ।

ययुर्वैकुण्ठनिलयं सर्वलोकनमस्कृतम् ॥ १३ ॥

ta ekadā bhagavato vaikuṇṭhasyāmalātmanaḥ yayur vaikuṇṭha-nilayaṁ sarva-loka-namaskṛtam

अर्थ: एक बार वे उस धाम में गए जिसे वैकुण्ठ कहते हैं, जो शुद्ध, निर्मल स्वरूप वाले भगवान् विष्णु का है — एक ऐसा लोक जिसे अन्य समस्त लोक नमन करते और पूजते हैं। (स्कन्ध 3, अध्याय 15, श्लोक 13)

इस सरल आगमन-वर्णन के पश्चात् जो आता है वह भागवत के प्रारम्भिक अध्यायों में कहीं भी पाए जाने वाले वैकुण्ठ के सबसे दीर्घ तथा सर्वाधिक प्रेमपूर्ण वर्णनों में से एक है — पूरे तेरह श्लोक (14 से 26 तक) उस लोक के वैभव के वर्णन में समर्पित, इससे पहले कि द्वार की घटना का उल्लेख तक हो। इस वर्णन पर ठहरना उचित है, क्योंकि ब्रह्मा की यह कथा स्पष्ट करती है कि वैकुण्ठ केवल स्वर्ग का कोई अधिक सुखद संस्करण नहीं है; यह प्रत्येक कण में शुद्ध, अखण्ड भक्ति से निर्मित एक लोक है।

वहाँ रहने वाला प्रत्येक जीव, ब्रह्मा कहते हैं, भगवान् के स्वरूप जैसा ही रूप धारण करता है, और उस लोक तक केवल श्रीहरि की निष्काम सेवा से ही पहुँचा जाता है — कभी केवल कर्मकाण्ड, तप, अथवा मोक्ष की इच्छा से नहीं। वहाँ नैऋत्यस नामक एक उद्यान है, मानो साक्षात् मोक्ष का ही मूर्त रूप, जहाँ हर ऋतु में एक साथ फल-फूल से लदे वृक्ष सुशोभित रहते हैं। गन्धर्व अपनी पत्नियों सहित आकाश-यानों में बैठकर भगवान्

की कथाएँ गाते हैं, इतने तल्लीन कि सर्वाधिक मादक वसन्त-पुष्पों की सुगन्ध भी, वायु द्वारा उन तक पहुँचकर, उनका ध्यान भंग नहीं कर पाती — वे तो उलटे उस वायु को ही इस विघ्न के लिए धिक्कारते हैं। जब भ्रमरों की गुंजार एक विशेष स्वर पर पहुँचती है, तो वह मानो भगवान् की ही कथा-सुनाई जैसी प्रतीत होती है, और अन्य समस्त पक्षी — कोकिल, हंस, मयूर, चक्रवाक — मौन होकर सुनने लगते हैं। उस लोक के पुष्प भी, ग्रन्थ के अनुसार, अपने बीच एक प्रकार का क्रम पहचानते हैं: मन्दार, कमल, पारिजात — सब सुगन्धित और गौरवशाली — फिर भी यह स्वीकार करते हैं कि तुलसी, भगवान् की प्रिय उस विनम्र वनस्पति, ने पूर्व जन्म में उन सबसे बढ़कर तपस्या की, और इसीलिए वह स्वयं भगवान् के शरीर को सुशोभित करने का सर्वोच्च सम्मान धारण करती है।

इसके आगे के दो श्लोक (21-22) देवी श्री का वर्णन करते हैं, स्वयं भगवान् की प्रियतमा, जो महल के प्रांगण में विचरण करती हैं, उनके चरणों में बजते नूपुरों की मधुर ध्वनि के साथ, हाथ में क्रीड़ा हेतु धारण किए हुए एक कमल-पुष्प के साथ, स्वर्ण-जटित क्रिस्टल भित्तियों में प्रतिबिम्बित होती हुई — इतना जीवन्त प्रतिबिम्ब कि वे मानो क्रीड़ावश उस भवन को झाड़ रही हों जो वास्तव में कभी धूलिमय हो ही नहीं सकता। समीप ही, अपने ही उद्यान में, वे तुलसी-दल से भगवान् की पूजा करती हैं, तथा प्रवाल-सोपानयुक्त एक सरोवर में अपना ही प्रतिबिम्ब देखकर स्वयं को धन्य मानती हैं कि उनका मुख भगवान् के चरणों द्वारा चूमा गया है।

वैकुण्ठ के सौन्दर्य का यह सम्पूर्ण, विस्तृत दृष्टान्त केवल अलंकरण नहीं है। यह ग्रन्थ में एक बात को द्वार की घटना से पहले ही असंदिग्ध रूप से स्पष्ट करने हेतु उपस्थित है: यह वह लोक है जहाँ क्रोध, संदेह तथा द्वैत का स्वभावतः कोई स्थान नहीं है — और यही बात आगे घटित होने वाली घटना को इतना विस्मयकारी बनाती है।



द्वार की कथा सुनाने से पहले ब्रह्मा वैकुण्ठ का विस्तृत वर्णन करते हैं — सदा-पुष्पित वृक्षों का एक उद्यान, गन्धर्व, तथा तुलसी का सम्मान करते पुष्प (श्लोक 14-26)।

स्वतन्त्र रूप से पार किए गए छह द्वार, और एक सातवाँ जो नहीं

उस लोक के वैभव को आत्मसात् करने के पश्चात् — ब्रह्मा देवताओं को बताते हैं — चारों कुमार परम आनन्दित हुए, अपने योग-बल से उस धाम तक पहुँचकर जो समस्त अन्य लोकों के लिए एकमात्र आदर का विषय है। और वे भगवान् के स्वयं के निवास की ओर बढ़ चले।

स्वर्ण तथा हीरे से समृद्ध छह द्वार वे बिना किसी आसक्ति के, तथा बिना किसी से अनुमति माँगे, स्वतन्त्र रूप से पार कर गए — क्योंकि ये ऋषि हर जगह बिना किसी अवरोध या भय के विचरण करते हैं, प्रत्येक जीव को, चाहे वह द्वारपाल हो या देवता, अपने ही आत्मा से भिन्न न मानते हुए। किन्तु सातवें द्वार पर उन्होंने कुछ नया देखा: समान आयु के दो तेजोमय प्राणी, गदाधारी, बहुमूल्य बाजूबन्दों, कुण्डलों तथा मुकुटों से अलंकृत — ऐसे द्वारपाल जिनकी आवश्यकता पहले के छह द्वारों पर प्रतीत नहीं हुई थी।

तस्मिन्नतीत्य मुनयः षडसज्जमानाः कक्षाः समानवयसावथ सप्तमायाम् ।

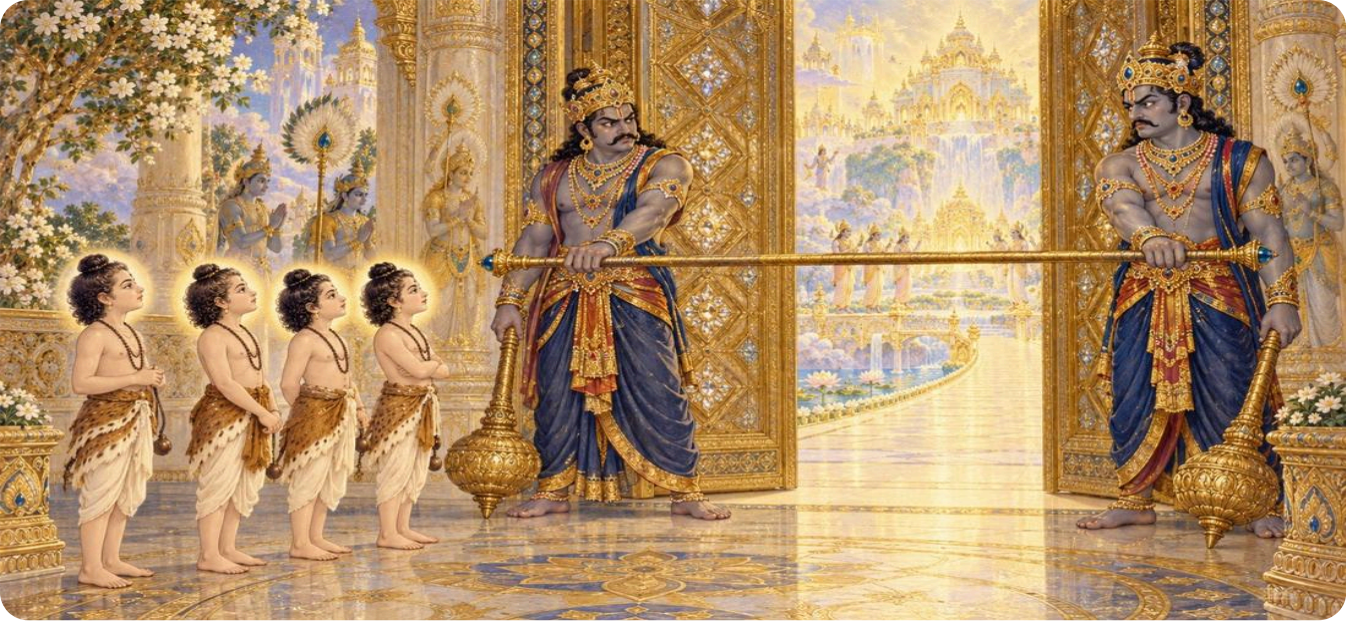
देवावचक्षत गृहीतगदौ परार्ध्य- केयूरकुण्डलकिरीटविटङ्कवेषौ ॥ २७ ॥

tasminn atītya munayaḥ ṣaḍ asajjamānāḥ kakṣāḥ samāna-vayasāv atha saptamāyām devāv acakṣata gṛhīta-gadau parārdhya- keyūra-kunḍala-kirīṭa-viṭaṅka-veṣau

अर्थ: भगवान् के निवास के छह द्वार बिना किसी आसक्ति के पार करने के पश्चात्, ऋषियों ने सातवें द्वार पर समान आयु के दो तेजोमय प्राणी देखे, जो गदा धारण किए हुए तथा सर्वाधिक मूल्यवान बाजूबन्दों, कुण्डलों एवं मुकुटों से अलंकृत थे। (स्कन्ध 3, अध्याय 15, श्लोक 27)

दोनों द्वारपाल — यद्यपि ग्रन्थ अभी तक उनके नाम नहीं बताता, परन्तु परम्परा तथा अगला अध्याय (षोडश अध्याय) उन्हें जय और विजय नाम से पहचानता है — अपने भव्य आभूषणों के साथ-साथ एक स्पष्ट रूप से क्षुब्ध मुखमुद्रा भी धारण किए हुए थे: तिरछी भौंहें, फैली हुई नासिकाएँ, लाल नेत्र — मानो ऋषियों के आगमन से पूर्व ही उनके भीतर कोई चिन्ता विद्यमान थी। चारों बालक-ऋषि, जिनके पास शरीर ढँकने हेतु आकाश के अतिरिक्त कुछ नहीं था, देखने में मात्र पाँच वर्ष के प्रतीत होते थे, यद्यपि वे वास्तव में ब्रह्मा की सृष्टि के सबसे ज्येष्ठ थे तथा आत्मा के परम सत्य को साक्षात् कर चुके थे। अपने स्वभाव के अनुरूप, वे पहले छह द्वारों की भाँति ही सातवें द्वार से भी बिना किसी से अनुमति माँगे प्रवेश करने लगे।

किन्तु इस बार द्वारपालों ने उन्हें रोक दिया। जय और विजय — जिनका स्वभाव, ग्रन्थ स्पष्ट रूप से कहता है, “भगवान् को अत्यन्त अप्रिय” था — ने अपने दण्ड से ऋषियों का मार्ग अवरुद्ध कर दिया, ऐसे प्राणियों के गौरव का तिरस्कार करते हुए जिनके साथ उन्हें वास्तव में केवल श्रद्धा का ही व्यवहार करना चाहिए था। उस लोक के अन्य देवता यह सब देख रहे थे; और वे भी, यद्यपि स्वयं भगवान् के समक्ष प्रवेश के सर्वथा योग्य थे, अपने प्रियतम मित्र (श्रीहरि) तक पहुँचने की उनकी लालसा के इस प्रकार बाधित होने पर क्रोधवश अपने नेत्रों में हल्की लालिमा अनुभव करने लगे।



छह द्वार निर्बाध पार करने के बाद, चारों कुमार सातवें द्वार पर दो तेजोमय द्वारपालों द्वारा रोक दिए जाते हैं (श्लोक 27-31)।

शाप: “तुम इन्हीं लोकों में चले जाओ”

आगे चारों ऋषि जो कहते हैं वह ध्यानपूर्वक पढ़ने योग्य है, क्योंकि यह साधारण क्रोध नहीं है — यह एक निदान है। वे द्वारपालों से मानो पूछते हैं कि कैसे यह सम्भव है कि स्वयं भगवान् के गुणों पर आधारित एक लोक में रहने वाले दो प्राणी — समत्व से परिपूर्ण एक लोक, जहाँ किसी को भी वास्तव में किसी से पृथक् नहीं माना जाता — इतनी विसंगत, इतनी संदेहपूर्ण प्रकृति कैसे विकसित कर सकते हैं, जो न होने वाले शत्रुओं को इतनी शीघ्रता से देख लेती है। यदि तुम यहाँ पाखण्डी और शत्रु देखते हो, ऋषि कहते हैं, तो दोष तुम्हारी अपनी दृष्टि में है, इस स्थान में नहीं: “इस लोक में केवल तुम दोनों ही पाखण्डी हो।”

मुनय ऊचुः को वामिहैत्य भगवत्परिचर्ययोच्चै-
स्तद्धर्मिणां निवसतां विषमः स्वभावः ।
तस्मिन् प्रशान्तपुरुषे गतविग्रहे वां
को वात्मवत्कुहकयोः परिशङ्कनीयः ॥ ३२ ॥

*muni ūcuḥ / ko vām ihaitya bhagavat-paricaryayoccais tad-dharmiṇām nivasatām viṣamaḥ
svabhāvaḥ tasmin praśānta-puruṣe gata-vigrahe vām ko vātmavat kuhakayoḥ pariśaṅkanīyaḥ*

अर्थ: ऋषियों ने कहा: भगवान् की सर्वोच्च सेवा में यहाँ रहते हुए, और उनके ही गुणों को धारण करने की अपेक्षा रखते हुए, तुम दोनों में इतना विसंगत स्वभाव कैसे उत्पन्न हो गया? स्वयं भगवान् सबके प्रति पूर्णतः शान्त हैं — तो फिर यहाँ किसे संदेह की दृष्टि से देखा जाए, सिवाय अपने ही प्रतिबिम्ब के, हे दोनों पाखण्डियो? (स्कन्ध 3, अध्याय 15, श्लोक 32)

वे बात को आगे बढ़ाते हैं: वैकुण्ठ के सच्चे निवासी, वे कहते हैं, स्वयं को उस भगवान् से पृथक् तक अनुभव नहीं करते जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को अपने ही उदर में धारण करते हैं — जिस प्रकार घट में बन्द आकाश वास्तव में उसके बाहर के अनन्त आकाश से कभी भिन्न नहीं होता। फिर तुम दोनों को, दिव्य शरीर से युक्त होते हुए भी, ऐसा क्या हो गया कि भेद-बुद्धि से उत्पन्न भय ने तुम्हें भर दिया? अतः, वे घोषणा करते हैं, एक

उपयुक्त दण्ड पर विचार करना होगा — प्रतिशोधवश नहीं, अपितु इसलिए कि इन दोनों “परमेश्वर के मन्दबुद्धि सेवकों” का अन्ततः कल्याण हो। चूँकि द्वारपाल यहाँ, स्वयं वैकुण्ठ में भी, द्वैत का अनुभव करते हैं, अतः उन्हें उसी लोक में जाना होगा जहाँ द्वैत ही श्वास-श्वास में व्याप्त है:

तद्वाममुष्य परमस्य विकुण्ठभर्तुः

कर्तुं प्रकृष्टमिह धीमहि मन्दधीभ्याम् ।

लोकानितो व्रजतमन्तरभावदृष्टया

पापीयसस्त्रय इमे रिपवोऽस्य यत्र ॥ ३४ ॥

*tad vām amuṣya paramasya vikuṇṭha-bhartuḥ kartuṁ prakṛṣṭam iha dhīmahi manda-dhībhyām
lokān ito vrajatam antara-bhāva-dṛṣṭyā pāpiyasas traya ime ripavo ‘sya yatra*

अर्थ: अतः, वैकुण्ठाधिपति परमेश्वर के इन दोनों मन्दबुद्धि सेवकों के कल्याण हेतु, हम एक उपयुक्त मार्ग निश्चित करते हैं। चूँकि तुम यहाँ भी द्वैत का अनुभव करते हो, अतः तुम उन लोकों में जाओ जहाँ तीन पापी शत्रु — काम, क्रोध तथा लोभ — प्रबल रहते हैं। (स्कन्ध 3, अध्याय 15, श्लोक 34)

यह लगभग नैदानिक स्वर में उच्चारित एक शाप है — ऊँचे स्वर में नहीं, अपितु उस चिकित्सक के शान्त, निदान-सूचक स्वर में जो किसी रोग का नाम बताकर उसका उपचार सुझा रहा हो। इन श्लोकों में कहीं भी ऋषि व्यक्तिगत आघात के कारण कार्य नहीं कर रहे; उनका क्रोध, ग्रन्थ पहले ही बता चुका है, केवल अपने प्रिय भगवान् तक पहुँचने की बाधित लालसा से उत्पन्न हुआ था, और जो वे उच्चारित करते हैं वह क्रोध के क्षण में भी, अन्ततः जय-विजय के ही कल्याण हेतु कहा जाता है।

दोनों द्वारपाल ऋषियों के चरणों में गिर पड़ते हैं

इसे सुनकर जय-विजय की प्रतिक्रिया तत्क्षण तथा अपने ढंग से अत्यन्त हृदयस्पर्शी है। जिस क्षण उन्हें बोध होता है कि उन पर जो पड़ा है वह ब्राह्मणों का शाप है — एक ऐसी शक्ति, ग्रन्थ कहता है, जिसे “अनेकानेक अस्त्रों से भी निष्फल नहीं किया जा सकता” — श्रीहरि के वे दोनों सेवक, जो किसी भी अन्य वस्तु से अधिक ब्राह्मणों के क्रोध से भयभीत रहते हैं, तत्काल भूमि पर साष्टांग प्रणाम करते हुए, पूर्ण विनम्रता से ऋषियों के चरण पकड़ लेते हैं।

उनके अपने शब्दों में कोई विरोध, कोई सौदेबाजी, शाप हटाने की कोई याचना नहीं है। “आपने हमें वही दण्ड दिया है जो एक अपराधी के लिए उचित है,” वे कहते हैं; “अतः इसे प्रभावी होने दीजिए, ताकि यह आपका, जो आदर के योग्य हैं, अनादर करने के हमारे पाप का सम्पूर्ण शोधन कर दे।” उनकी एकमात्र प्रार्थना — और यह उल्लेखनीय है कि केवल यही एक बात वे माँगते हैं — यह है कि भौतिक जगत् में उनके आगामी जन्मों में जो मोह उन्हें घेरगा, वह उनके मन से भगवान् की स्मृति को मिटा न दे।

यह एक ही प्रार्थना अध्याय की सबसे गहरी शिक्षाओं में से एक को संक्षेप में समेटे हुए है। जय-विजय कष्ट से बचने, प्रतिष्ठा की हानि से बचने, अथवा वैकुण्ठ से निर्वासन से बचने की प्रार्थना नहीं करते। वे केवल उस वस्तु को बचाए रखना चाहते हैं जो सबसे महत्त्वपूर्ण है: स्मरण। यह वह प्रार्थना है जिसे भगवान् अगले अध्याय में अपने ही विशिष्ट ढंग से स्वीकार करेंगे।



ब्राह्मणों के शाप की अनिवार्यता पहचानते हुए, दोनों द्वारपाल तुरन्त ऋषियों के समक्ष प्रणाम करते हैं (श्लोक 35-36)।

भगवान् स्वयं अपने द्वार पर पधारते हैं

आगे जो घटित होता है वह किसी भी स्पष्टीकरण से अधिक प्रभावशाली ढंग से उस प्रश्न का उत्तर देता है जो ऋषियों ने स्वयं अभी-अभी उठाया था: भला उस लोक में सचमुच कुछ गलत कैसे हो सकता है जो भगवान् की उपस्थिति से इतना पूर्णतः व्याप्त है? अपराध घटित होते ही, स्वयं भगवान् — जिन्हें यहाँ पद्मनाभ कहा गया है, जिनकी नाभि से सृष्टि का कमल उत्पन्न होता है, धर्मात्माओं के आनन्दस्वरूप — अपने ही सेवकों द्वारा ऐसे महान् सन्तों पर किए गए अपमान से अवगत हो जाते हैं, और तुरन्त स्वयं उन्हीं चरणों से, जिन्हें एकान्तवासी तथा महान् ऋषि खोजते रहते हैं, द्वार की ओर चल पड़ते हैं, अपनी नित्य संगिनी श्री के साथ।

एवं तदैव भगवानरविन्दनाभः

स्वानां विबुध्य सदतिक्रममार्यहृद्यः ।

तस्मिन् ययौ परमहंसमहामुनीना-

मन्वेषणीयचरणौ चलयन् सहश्रीः ॥ ३७ ॥

evam tadaiva bhagavān aravinda-nābhaḥ svānāṁ vibudhya sad-atikramam ārya-hṛdyaḥ tasmin yayau paramahansa-mahā-munīnām anveṣaṇīya-caraṇau calayan saha-śrīḥ

अर्थ: उसी क्षण, नाभि में कमलधारी तथा धर्मात्माओं के आनन्दस्वरूप भगवान्, अपने ही सेवकों द्वारा सन्तों पर किए गए अपमान से अवगत होकर, उन्हीं चरणों से — जिन्हें महान् एकान्तवासी तथा ऋषि खोजते हैं — श्री के साथ उस स्थान की ओर तुरन्त चल पड़े। (स्कन्ध 3, अध्याय 15, श्लोक 37)

इसके पश्चात् भगवान् के आगमन का एक विस्तृत, प्रेमपूर्ण वर्णन आता है — शीर्ष पर चन्द्रमा-सा श्वेत छत्र, उसके किनारे लटकते मोतियों की लड़ियाँ हंस-सम श्वेत चँवरों की वायु में नाचती हुई मानो उसकी किरणों से गिरती अमृत-बूँदें, देवी लक्ष्मी उनके श्याम, विशाल वक्षस्थल पर स्वर्ण-रेखा-सी सुशोभित, भ्रमरों की गुंजार से युक्त वन-पुष्पों की माला, एक हाथ गरुड़ के कन्धे पर तथा दूसरे में घूमता हुआ कमल, रत्नजटित

मुकुट से आच्छादित मस्तक, तथा कण्ठ में कौस्तुभ मणि। ऋषि, जिनकी सम्पूर्ण ध्यान-साधना का लक्ष्य यही स्वरूप था, अब उसे प्रत्यक्ष अपने नेत्रों के समक्ष देखकर अतृप्त दृष्टि से निहारते रहे, तथा आनन्दपूर्वक अपने मस्तक झुकाए।

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि क्या नहीं होता: न तो ऋषियों के क्रोध की कोई भर्त्सना होती है, न ही घटना पर कोई निर्णय सुनाया जाता है। अपने ही द्वार पर उच्चारित शाप के प्रति भगवान् की प्रतिक्रिया केवल प्रकट होना है — उनकी उपस्थिति मात्र उस क्षण के सम्पूर्ण तनाव को विलीन कर, ऋषियों के शेष क्षोभ को भी शुद्ध, तल्लीन भक्ति में परिवर्तित कर देती है। यहाँ तक कि उन तक पहुँचने वाली वायु, जो कमल-चरणों की धूल के साथ तुलसी-मकरन्द की सुगन्ध लिए हुए है, उनके शरीर में एक स्पष्ट रोमांच उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त है, यद्यपि ये वे ऋषि हैं जो पहले से ही परब्रह्म के साथ एकत्व में स्थित हैं, तथा हर सामान्य मापदण्ड से ऐसी इन्द्रिय-उत्तेजना से सर्वथा परे हैं।



भगवान् पद्मनाभ तुरन्त अपने ही द्वार पर पधारते हैं, श्री के साथ (श्लोक 37-45)।

यह एक विवरण प्रतीत होने से कहीं अधिक भार रखता है। चारों कुमार युगों-युगों से निर्गुण, निराकार ब्रह्म की खोज में लीन रहे थे, प्रत्येक रूप से परे आत्मा को ढूँढते हुए। किन्तु जिस क्षण भगवान् के चरणों से आई वह तुलसी-सुवासित वायु उन तक पहुँचती है, उनके भीतर शरीर और मन दोनों में कुछ परिवर्तित हो जाता है, यद्यपि उनका सम्पूर्ण साधन-जीवन निराकार को ही परम सत्य मानने का रहा था (श्लोक 43)। परमेश्वर के साथ एकत्व की उनकी दीर्घकालीन साधना धीरे-धीरे उस लालसा के लिए मार्ग छोड़ देती है जिसे उन्होंने कभी नहीं चाहा था: बस सदा के लिए भगवान् के चरणों में सेवक बने रहना।

ग्रन्थ आगे स्पष्ट करता है कि यही वह स्वरूप है जिसकी ओर वास्तविक योग सदैव ले जाने वाला था — कोई शून्य या निराकार अवस्था नहीं, अपितु स्वयं भगवान् का यही साकार स्वरूप, ठीक वैसा ही जैसा उस क्षण चारों ऋषियों के समक्ष प्रकट था।

पुंसां गतिं मृगयतामिह योगमार्गे-
ध्यानास्पदं बहु मतं नयनाभिरामम् ।
पौंस्नं वपुर्दर्शयानमनन्यसिद्धै-
रौत्पत्तिकैः समगृणन् युतमष्टभोगैः ॥ ४५ ॥

*pumsām gatim mṛgayatām iha yoga-mārgair dhyānāspadam bahu-matam nayanābhirāmam
pauṁsnaṁ vapur darśayānam ananya-siddhair autpattikaiḥ samagrāṇaṁ yutam aṣṭa-bhogaiḥ*

अर्थ: भगवान् का यही स्वरूप है जिसका ध्यान योग-मार्ग के अनुयायी करते हैं; यह मन की कोई कल्पना नहीं, अपितु महान् योगियों द्वारा प्रत्यक्ष अनुभूत एक ठोस सत्य है — एक ऐसा स्वरूप जो योग की आठों सिद्धियों से सम्पूर्ण रूप से युक्त है, जिन्हें अन्य साधक अधिक-से-अधिक आंशिक रूप से ही प्राप्त कर पाते हैं। (स्कन्ध 3, अध्याय 15, श्लोक 45)

यहीं इस सम्पूर्ण अध्याय का गूढ़ सिद्धान्त टिका हुआ है। ब्रह्मा पहले ही सिखा चुके थे, और उस युग की सम्पूर्ण योग-परम्परा भी यही मानती थी, कि सच्चे साधक की सर्वोच्च आकांक्षा निराकार ब्रह्म के तेज में विलीन हो जाना है — वही लक्ष्य जिसे स्वयं ये चारों ऋषि अपने अस्तित्व के आरम्भ से ही साध रहे थे। किन्तु भगवान् के साक्षात् स्वरूप को देखते ही वह पुरानी आकांक्षा स्वतः विलीन हो जाती है, और उसका स्थान एक व्यक्ति-विशेष के प्रति प्रेम ले लेता है। यह अध्याय स्पष्ट करता है कि वास्तविक योग निराकारता में समाप्त नहीं होता; वह यहीं, इसी द्वार पर, सौन्दर्य तथा ऐश्वर्य से परिपूर्ण इस स्वरूप के समक्ष समाप्त होता है, जिनसे शून्य के सबसे निष्ठावान् साधक को भी, यदि उसकी खोज सच्ची हो, अन्ततः साक्षात् होना ही पड़ता है। विलय नहीं, भक्ति ही उस योग की वास्तविक चरम सीमा सिद्ध होती है जिसे ये ऋषि आजीवन साधते रहे (श्लोक 43, 45)।

कुमारों की प्रार्थना

अध्याय का समापन चारों कुमारों की उस विस्मयपूर्ण प्रार्थना से होता है जो वे उस भगवान् के समक्ष अर्पित करते हैं जिन्हें प्रत्यक्ष देखने का दुर्लभ सौभाग्य उन्हें अभी-अभी प्राप्त हुआ है। यह प्रार्थना पूर्णतः दर्शन तथा स्मरण के विषय पर आधारित है — वही विषय जिसे जय-विजय ने कुछ क्षण पूर्व, अपने आगामी पतन में भी, थामे रखने की प्रार्थना की थी।

कुमारा ऊचुः योऽन्तर्हितो हृदि गतोऽपि दुरात्मनां त्वं
सोऽद्यैव नो नयनमूलमनन्त राद्धः ।
यर्ह्येव कर्णविवरेण गुहां गतो नः
पित्रानुवर्णितरहा भवदुद्भवेन ॥ ४६ ॥

*yo 'ntarhito hṛdi gato 'pi durātmanām tvaṁ so 'dyaiva no nayana-mūlam ananta rāddhaḥ yarhy
eva karṇa-vivareṇa guhām gato naḥ pitrānuvarṇita-rahā bhavad-udbhavena*

अर्थ: कुमारों ने कहा: हे अनन्त भगवन्, आप जो दुष्ट-हृदयों की दृष्टि से छिपे रहते हैं यद्यपि उनके हृदय में ही निवास करते हैं, आज साक्षात् हमारे नेत्रों के समक्ष प्रकट हुए हैं — आप जो अब तक हमारे पिता के मुख से आपके रहस्य के वर्णन के रूप में, कान के मार्ग से ही, हमारे हृदय में प्रविष्ट हुए थे। (स्कन्ध 3, अध्याय 15, श्लोक 46)

वे इससे भी आगे जाते हैं। यही स्वरूप, वे घोषित करते हैं — शुद्ध सत्त्व से युक्त, रज तथा तम से सर्वथा अस्पर्शित — परम सत्य का अन्तिम शब्द है: निराकार ब्रह्म से भी परे, जिसे वे कभी खोजते थे, तथा ध्यानियों द्वारा अनुभूत परमात्मा से भी परे, स्वयं भगवान् विराजमान हैं, जिन्हें केवल अटूट भक्ति के द्वारा ही जाना जा सकता है (श्लोक 47)। और जिन्होंने इसे सचमुच समझ लिया है, कुमार कहते हैं, वे अब मोक्ष तक की

भी कामना नहीं करते — वही अवस्था जिसे पाने के लिए उनकी वर्षों की निराकारवादी साधना ने उन्हें प्रशिक्षित किया था। वे तो केवल भगवान् की लीलाओं को सुनना तथा सुनाना चाहते हैं, तथा हर अन्य वरदान को, चाहे वह कितना ही श्रेष्ठ क्यों न हो, अस्वीकार कर देते हैं (श्लोक 48)।

इसके पश्चात् आने वाली प्रार्थना श्लोक-दर-श्लोक यह घोषित करती है कि कुमार इस दर्शन तथा उसकी स्मृति के अतिरिक्त कुछ नहीं चाहते — न मोक्ष, न इन्द्र-पद, न भगवान् द्वारा प्रदत्त कोई अन्य वरदान। “हमारे पापों के फलस्वरूप हम भले ही नरक-लोकों में जन्म लें,” वे कहते हैं, लगभग वही भाषा प्रयोग करते हुए जो जय-विजय ने अभी-अभी स्वयं कही थी, “बस यदि हमारा मन आपके कमल-चरणों में सतत आनन्दित होता रहे” (श्लोक 49)। यह एक विस्मयकारी प्रतिध्वनि है: गिरने वाले द्वारपाल, और शाप देने वाले ऋषि, कुछ ही श्लोकों में यह दर्शाए जाते हैं कि मूलतः वे दोनों एक ही वस्तु चाहते हैं — सुख-सुविधा या प्रतिष्ठा नहीं, अपितु भगवान् का अखण्ड स्मरण।

प्रादुश्चकर्था यदिदं पुरुहूत रूपं

तेनेश निर्वृतिमवापुरलं दृशो नः ।

तस्मा इदं भगवते नम इद्विधेम

योऽनात्मनां दुरुदयो भगवान् प्रतीतः ॥ ५० ॥

prāduścakārtha yad idaṁ puruhūta rūpaṁ teneśa nirvṛtim avāpur alaṁ dṛśo naḥ tasmā idaṁ bhagavate nama id vidhema yo 'nātmanāṁ durudayo bhagavān pratītaḥ

अर्थ: हे अनेक नामों से आहूत भगवन्, आपके इस स्वरूप को देखकर, जिसे आपने कृपापूर्वक हमारे समक्ष प्रकट किया है, हमारे नेत्रों को पूर्ण तृप्ति प्राप्त हुई है; अतः हम आपको, हे सर्वशक्तिमान्, जो मिथ्या अहंकार में बद्ध जीवों के लिए दुर्लभ हैं, नमन करते हैं। (स्कन्ध 3, अध्याय 15, श्लोक 50)

इस समापन-नमन के साथ पंचदश अध्याय समाप्त होता है। तुरन्त बाद आने वाला षोडश अध्याय पुनः स्वयं द्वारपालों की ओर लौटेगा और उनके पतन की वास्तविक प्रक्रिया का वर्णन करेगा — वह विकल्प जो भगवान् उन्हें प्रदान करते हैं, तथा वह नियति जो जय-विजय की प्रतीक्षा करती है जब वे स्वर्ग से भौतिक सृष्टि में उतरते हैं, वहाँ तीन क्रमिक युगों में जन्म लेने के लिए — पहले महान् शत्रुओं के रूप में, और अन्ततः भगवान् के अवतारों के महान् भक्तों के रूप में।

इस अध्याय की मुख्य शिक्षाएँ

1. क्रोध में उच्चारित शाप भी कृपा का ही कार्य हो सकता है। चारों कुमार जय-विजय को द्वेषवश नहीं, अपितु एक निदान तथा उपचार के रूप में शाप देते हैं — उनका स्पष्ट उद्देश्य, श्लोकों में ही कहा गया है, द्वारपालों का अन्तिम कल्याण है, उनका विनाश नहीं (श्लोक 32-34)।
2. स्वर्ग में भी अनुभव किया गया द्वैत देखने वाले का दोष प्रकट करता है, स्थान का नहीं। ब्रह्मा का दीर्घ वर्णन स्पष्ट करता है कि वैकुण्ठ स्वयं पूर्णतः भगवान् के गुणों पर आधारित है; जय-विजय को ऋषियों की फटकार यही है कि उस लोक में संदेह तथा पृथक्ता का कोई सत्य आधार नहीं है — दोष दृष्टि में है, दृश्य में नहीं (श्लोक 26-33)।

3. न्यायसंगत सुधार का सही उत्तर पूर्ण विनम्रता है, प्रतिरोध नहीं। जय-विजय अपने दण्ड के विरुद्ध न तो तर्क करते हैं, न सौदेबाजी करते हैं, न प्रतिरोध करते हैं; वे इसे तुरन्त उचित मानकर स्वीकार करते हैं, केवल यह प्रार्थना करते हुए कि जो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है — भगवान् की स्मृति — वह बनी रहे (श्लोक 35-36)।

4. भगवान् अपने भक्तों पर हुए अपराध का उत्तर दण्ड देकर नहीं, अपितु प्रकट होकर देते हैं। आगे किसी को फटकारने के बजाय, इस घटना के प्रति भगवान् की स्वयं की प्रतिक्रिया केवल द्वार पर तुरन्त प्रकट हो जाना है — उनकी उपस्थिति ही वह सब हल कर देती है जो क्रोध तथा अपराध नहीं कर सके (श्लोक 37)।

5. भक्त की एकमात्र सच्ची प्रार्थना, चाहे परिस्थिति कुछ भी हो, अखण्ड स्मरण की है। गिरते हुए द्वारपाल तथा शाप देने वाले ऋषि, दोनों ही इसी अध्याय में अपने-अपने शब्दों में, हर अन्य वरदान से ऊपर एक ही वस्तु माँगते हैं: कि भगवान् की स्मृति तथा दर्शन कभी न खोए, चाहे कष्ट हो अथवा स्वर्ग से पतन ही क्यों न हो (श्लोक 36, 48-49)।

6. निराकार ब्रह्म के दीर्घकालीन साधकों को भी भगवान् के साकार स्वरूप की एक झलक जीत लेती है। जिन चारों कुमारों का सम्पूर्ण साधन-जीवन निर्गुण ब्रह्म के ध्यान में बीता था, वे भगवान् के चरणों की मात्र सुगन्ध से रूपान्तरित हो जाते हैं, और आगे यह घोषित करते हैं कि उन्हें साक्षात् देख लेने के पश्चात् मोक्ष तक अपना आकर्षण खो देता है (श्लोक 43, 45, 47-48)।

एक भक्तिपूर्ण चिन्तन

इस अध्याय के मूल में एक विरोधाभास है जिस पर शान्तिपूर्वक विचार करना सार्थक है। वैकुण्ठ, जैसा कि ब्रह्मा इतने प्रेमपूर्ण विस्तार से वर्णित करते हैं, एक ऐसा लोक है जो पूर्णतः द्वैत से रहित है — एक ऐसा लोक जहाँ पुष्प तक तुलसी के सम्बन्ध में अपना स्थान समझते हैं, जहाँ प्रत्येक निवासी स्वयं भगवान् के ही गुणों को धारण करता है। और फिर भी यह ठीक उसी लोक में, उसी के सातवें द्वार पर है कि इस कथा का एकमात्र वास्तविक संघर्ष घटित होता है। यहाँ निहित शिक्षा यह नहीं है कि पूर्णता कोई भ्रम है, अपितु यह है कि एक क्षण की भी असावधानी — अभिमान की एक झलक, संदेह की एक चमक — जहाँ कहीं भी उत्पन्न हो, चाहे स्थान कितना भी श्रेष्ठ क्यों न हो, परिणाम अवश्य लाती है। जय-विजय वैकुण्ठ के लिए अजनबी नहीं थे; वे उसके अपने विश्वस्त रक्षक थे, उसी के आभूषणों से अलंकृत, उसी के भीतरतम द्वार पर खड़े। उनका पतन किसी बाह्य प्रलोभन से नहीं, अपितु उस क्षण की एक आन्तरिक दृष्टि-चूक से आरम्भ हुआ जब चार छोटे, दिग्म्बर ऋषि उनकी ओर बढ़े हुए दिखाई दिए, सम्भवतः किसी साधारण व्यक्ति जैसे। अध्याय की शान्त चेतावनी यह है कि सम्यक् दृष्टि — जो भी रूप हमारे पास आए, चाहे वह कितना ही साधारण प्रतीत हो, उसमें दिव्यता को पहचानना — एक ऐसा अनुशासन है जिसे स्वर्ग में भी बनाए रखना होता है, और इसका अभाव, चाहे वह कितना भी छोटा हो, भगवान् के एक द्वारपाल को भी अपने पद से गिरा सकता है।

एक दैनिक भक्ति-अभ्यास

आज, इससे पहले कि आप किसी ऐसे व्यक्ति से कठोर वचन कहें जो उस क्षण आपके मार्ग में बाधक प्रतीत हो — कोई अपरिचित, कोई परिवारजन, कोई ऐसा व्यक्ति जिसका उद्देश्य या मूल्य आपको तत्काल दिखाई न दे — रुकिए, जैसा कि ऋषियों ने अन्ततः जय-विजय के साथ किया, और ईमानदारी से पूछिए कि क्या आप जो देख रहे हैं वह वास्तव में कोई खतरा है, अथवा केवल आपकी अपनी व्याकुलता का प्रतिबिम्ब है। विचार कीजिए कि आपके समक्ष खड़ा व्यक्ति, द्वार पर खड़े चारों कुमारों के समान, ऐसी गरिमा धारण किए हो सकता है जिसे आपकी पहली दृष्टि पहचान न सकी। और जब आप पाएँ कि आपने किसी छोटे रूप में ही सही, ऐसी किसी वस्तु को अवरुद्ध या अस्वीकार कर दिया है जिसका आपको स्वागत करना चाहिए था, तो जय-विजय की ही प्रतिक्रिया को अपना आदर्श बनाइए: तर्क या बहाना न करें, अपितु

सुधार को विनम्रतापूर्वक स्वीकार करें, और केवल यह प्रार्थना करें कि जो भी परिणाम हो, उसके माध्यम से भी दिव्य का आपका स्मरण सुरक्षित रहे। इस चिन्तन को शान्तिपूर्वक दोहराते हुए समाप्त कीजिए: “ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।” वह स्मरण ही वह द्वार बने जिस पर किसी भी अभिमान को अपना मार्ग अवरुद्ध करने की अनुमति कभी न मिले।

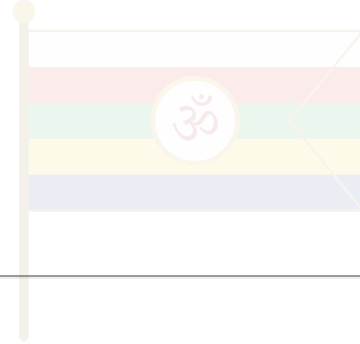
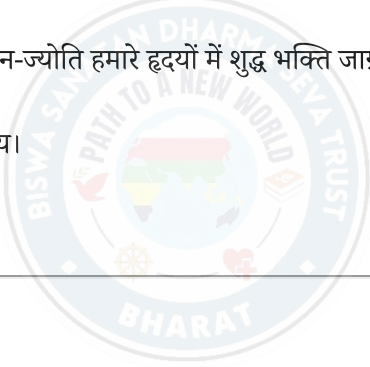
उपसंहार

तृतीय स्कन्ध का पंचदश अध्याय, ऊपर से देखने पर, एक ही द्वार पर घटित एक ही चूक की कथा है — दो द्वारपाल, चार विचरणाशील ऋषि, एक शीघ्रतापूर्ण शाप। किन्तु इसका वास्तविक विस्तार दिव्यता की सुदूरतम सीमा से लेकर भौतिक जगत् के सर्वाधिक भयावह असुरों की उत्पत्ति तक फैला हुआ है, क्योंकि इसी द्वार से जय-विजय का पतन ही आगामी अध्यायों में हिरण्यकशिपु तथा हिरण्याक्ष के जन्मों को गति देगा। ब्रह्मा यह कथा चिन्तित देवताओं को किसी विषयान्तर के रूप में नहीं, अपितु उनके भय के उत्तर के रूप में सुनाते हैं: दिति के गर्भ में सघन होता अन्धकार और कुछ नहीं, अपितु स्वर्ग से एक बार पहले ही गिर चुके इन्हीं दो अभिमानी किन्तु भक्त सेवकों का, भौतिक जगत् में उनके दूसरे तथा अन्तिम जन्म का, निकट आना है। और फिर भी अध्याय इसे केवल एक त्रासदी के रूप में पढ़े जाने से इनकार करता है। हर मोड़ पर — ऋषियों के इस आग्रह में कि शाप द्वारपालों के कल्याण हेतु है, जय-विजय की शान्त स्वीकृति तथा स्मरण की उनकी एकल प्रार्थना में, भगवान् के अपने ही द्वार पर उस तत्काल, निर्णयरहित आगमन में — ग्रन्थ इस बात पर बल देता है कि सर्वोच्च स्वर्ग से भी पतन, एक सच्चे भक्त के लिए, दिव्य कृपा के आलिङ्गन में ही बना रहता है।

श्रीमद्भागवत की दिव्य ज्ञान-ज्योति हमारे हृदयों में शुद्ध भक्ति जाग्रत करे।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।

जय श्री माधव।



संदर्भ एवं आभार

- मूल संस्करण: गीता प्रेस, श्रीमद्भागवत महापुराण (अंग्रेज़ी, सम्पूर्ण), तृतीय स्कन्ध, पंचदश अध्याय।
- शृंखला: श्रीमद्भागवतम् विज़डम • बिस्वा सनातन धर्म सेवा ट्रस्ट।
- पण्डित डॉ. श्री काशीनाथ मिश्र के आध्यात्मिक मार्गदर्शन तथा अनुशंसा के अनुसार प्रस्तुत।

यह लेखक के अपने शब्दों में एक मौलिक, निष्ठावान् पुनर्कथन है, जिसमें संक्षिप्त उद्धृत श्लोक देवनागरी तथा लिप्यन्तरण में दिखाए गए हैं तथा उनके अर्थ संक्षेप के रूप में दिए गए हैं। यह किसी एक प्रकाशक के सतत अनुवाद अथवा टीका की प्रतिलिपि नहीं है। किसी भी प्रकाशक के साथ सम्बद्धता अथवा समर्थन का कोई संकेत नहीं दिया गया है।

॥ हरि ॐ तत्सत् ॥

जय श्री माधव

